❒ गीतिका बोथरा

सम्यक् चारित्र

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के अनुसार यथार्थरूप से अहिंसा, सत्य आदि सदाचारों का पालन करना ही सम्यक्चारित्र है। इसके दो भेद हैं। (१) देशविरति और (२) सर्वविरति।

१. देशविरति—देश=अंश, विरति=त्याग अर्थात् हिंसादि पापों का आंशिक त्याग करना तथा व्रतों का मर्यादित पालन करना देशविरति चारित्र धर्म कहलाता है।

सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के बाद जीव को संसार, आरंभ, परिग्रह, विषय-विचार इत्यादि जहर जैसे लगते हैं। वह जीव प्रतिदिन विचार करता है कि "कब वह इस पाप भरे संसार का त्याग कर, मुनि बनकर दर्शन, ज्ञान, चारित्र की आराधना करेगा? यद्यपि वह एकदम संसार का परित्याग करदे, यह सम्भव नहीं होता तथापि विचार ही चलता रहता है। और जबतक सर्वत: पापों का त्यागकर साधु-जीवन न अपना ले तबतक वह जीव शक्य पाप त्याग रूप देशविरति-श्रावक धर्म का अवश्य पालन करता है। इसमें सम्यक्त्वव्रत पूर्वक स्थूलरूप से हिंसादि का त्याग तथा सामायिकादि धर्म-साधना करने की प्रतिज्ञा की जाती है।"

मार्गानुसारी जीवन–जैसे 'देशविरति' इत्यादि आचारधर्मों की प्राप्ति के लिए सम्यग्दर्शन का होना आवश्यक है, वैसे सम्यग्दर्शन से पूर्व 'मार्गानुसारी जीवन' आवश्यक है। सम्यग् दर्शन-ज्ञान-चारित्र, मोक्ष मार्ग है। उसके प्रति अनुसरण कराने वाला.....उसके लिए योग्य बनाने वाला जीवन मार्गानुसारी जीवन है। जैसे महल के लिए मजबूत नींव की आवश्यकता है, वैसे धार्मिक विकास क्रम के लिए मार्गानुसारी जीवन पूर्व-भूमिका है। अत: यहाँ देश विरति-धर्म की चर्चा करने से पहिले मार्गानुसारी जीवन के बारे में बताया जाता है।

शास्त्र में मार्गानुसारी जीवन के ३५ गुण बताये हैं। इन ३५ गुणों को चार भागों में विभक्त किया जाता है।

(१) ११ कर्त्तव्य

(२) ८ दोष

(३) ८ गुण

(४) ८ साधना

११ कर्त्तव्य :—

(१) न्याय-सम्पन्न-विभव—गृहस्थ जीवन का निर्वाह करने के लिये धन कमाना आवश्यक है। किन्तु न्याय-नीति से धन का उपार्जन करना यह मार्गानुसारी-जीवन का प्रथम कर्तव्य है।

(२) आयोचित-व्यय—आय के अनुसार ही खर्च करना। तथा धर्म को भूलकर अनुचित खर्च न करना यह 'उचित खर्च' नामक दूसरा कर्तव्य है।

(३) उचित-वेश—अपनी मान मर्यादा के अनुरूप उचित वेशभूषा रखना। अत्यधिक तड़कीले-भड़कीले, अंगों का प्रदर्शन हो तथा देखनेवालों को मोह व क्षोभ पैदा हो ऐसे वस्त्रों को कभी भी नहीं पहिनना।

(४) उचित-मकान—जो मकान बहुत द्वारवाला न हो, ज्यादा ऊँचा न हो तथा एकदम खुला भी न हो ऐसे मकान उचित मकान हैं। चोर डाकुओं का भय न हो। पड़ोसी अच्छे हों, ऐसे मकान में रहना चाहिए।

(५) उचित-विवाह—गृहस्थ जीवन के निर्वाह के लिये यदि शादी करना पड़े तो भिन्न गोत्रीय किन्तु कुछ और शील में समान तथा समान आचारवाले के साथ करें। इससे जीवन में सुख-शान्ति रहती है। पति-पत्नी के बीच मतभेद नहीं होता।

(६) अजीर्ण-भोजन त्याग—जबतक पहिले खाया हुआ भोजन न पचे तबतक भोजन करें।

(७) उचित-भोजन—निश्चित समय पर भोजन करें। प्रकृति के अनुकूल ही खायें। निश्चित समय पर भोजन करने से भोजन अच्वी तरह पचता है, प्रकृति से विपरीत भोजन करने से तबियत बिगड़ जाती है। भोजन में भक्ष्य-अभक्ष्य का भी विवेक करें। तामसी, विकारोत्पादक एवं उत्तेजक पदार्थों का सर्वथा त्याग करें।

(८) माता-पिता की पूजा—माता-पिता की सेवा-भक्ति करें। उनके खाने के बाद खायें, सोने के बाद सोयें। उनकी आज्ञा का प्रेमपूर्वक पालन करें।

(९) पोष्य-पालक—पोषण करने योग्य स्वजन-परिजन, दासी-दास इत्यादि का यथाशक्ति पालन करें।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(१०) अतिथि-पूजक—गुरुजन, स्वधर्मी, दीन एवं दुखियों की यथायोग्य सेवा करना।

(११) ज्ञानी-चारित्री की सेवा—जो ज्ञानवान्, चारित्री, तपस्वी, शीलवान् एवं सदाचारी हों, उसकी सेवा भक्ति करे।

८ दोषों का त्याग :—

(१) निन्दा त्याग—किसी की भी निन्दा न करें। निन्दा महान् दोष् है। इससे हृदय में द्वेष-ईर्ष्या बढ़ती है। प्रेमभंग होता है। नीच गोत्र कर्म बंधता है।

(२) निन्द्य प्रवृत्ति का त्याग—मन, वचन या काया से ऐसी कोई प्रवृत्ति न करें जो धर्म-विरुद्ध हो। अन्यथा निन्दा होती है, पापबंध होता है।

(३) इन्द्रिय-निग्रह—अयोग्य विषय की ओर दौड़ती हुई इन्द्रियों को काबू में रखना। इन्द्रियों की गुलामी में न पड़ना।

(४) आन्तर-शत्रु पर विजय—काम, क्रोध, मद, लोभ, मान एवं उन्माद ये छः आन्तर शत्रु हैं। इन शत्रुओं पर विजय प्राप्त करना चाहिए। अन्यथा व्यावहारिक-जीवन में नुकसान होता है और आध्यात्मिक जीवन में पापबंध होता है।

(५) अभिनिवेश त्याग—मन में किसी भी बात का कदाग्रह नहीं रखना चाहिये, अन्यथा अपकीर्ति होती है। सत्य से वंचित रहना पड़ता है।

(६) त्रिवर्ग में बाधा का त्याग—धर्म, अर्थ, काम में परस्पर बाधा पहुँचे, ऐसा कुछ भी नहीं करें। उचित रीति से तीनों पुरुषार्थों को अबाधित साधना करनेवाला ही सुख शान्ति प्राप्त कर सकता है।

(७) उपद्रवयुक्त स्थान का त्याग—जिस स्थान में विद्रोह पैदा हुआ हो अथवा महामारी, प्लेग इत्यादि उपद्रव हो गया हो, ऐसे स्थान का त्याग कर देना।

(८) अयोग्य-देश-काल चर्या त्याग—जैसे धर्म विरुद्ध प्रवृत्ति का त्याग आवश्यक है, वैसे ही व्यवहार शुद्धि एवं भविष्य में पाप से बचने के लिये देश, काल तथा समाज से विरुद्ध प्रवृत्ति का त्याग भी आवश्यक है। जैसे एक सज्जन व्यक्ति का वेश्या या बदमाशों के मुहल्ले से बार-बार आना जाना। आधी रात तक घूमना-फिरना स्वयं बदमाश न होते हुए भी बदमाशों की संगति करना इत्यादि देश काल एवं समाज के विरुद्ध है, अतः ऐसा नहीं करना चाहिये। अन्यथा कलंक इत्यादि की सम्भावना है।

८. गुणों का आदर :—

(१) पाप भय—''मेरे से पाप न हो जाय'' हमेशा यह भय बना रहे। पाप का प्रसंग उपस्थित हो तो–''हाय, मेरा क्या होगा?'' यह विचार आये। ऐसी पापभीरूता आत्मोत्थान का प्रथम पाया है।

(२) लज्जा—अकार्य करते हुए लज्जा का अनुभव हो। इससे अकार्य करते हुए व्यक्ति रुक जाते हैं। भविष्य में सर्वथा अकार्य का परित्याग हो जाता है।

(३) सौम्यता—आकृति सौम्य-शान्त हो, वाणी मधुर एवं शीतल हो, हृदय पवित्र हो। जो व्यक्ति ऐसा होता है, वह सबका स्नेह, सद्भाव एवं सहानुभूति पाता है।

(४) लोकप्रियता—अपने शील, सदाचार आदि गुणों के द्वारा लोकों का प्रेम संपादन करना चाहिये। क्योंकि लोकप्रिय धर्मात्मा दूसरों को धर्म के प्रति निष्ठावान और आस्थावाला बना सकता है।

(५) दीर्घदर्शी—किसी भी कार्य को करने से पहिले, उसके परिणाम पर अच्छी तरह विचार करनेवाला हो, जिससे बाद में दुखी न होना पड़े।

(६) बलाबल की विचारणा—कार्य चाहे कितना भी अच्छा हो किन्तु उसके करने से पूर्व सोचें कि उस कार्य को पूर्ण करने की मेरे में क्षमता है या नहीं। अपनी क्षमता का विचार किये बगैर कार्य प्रारम्भ कर देने में नुकसान है। एक तो कार्य को बीच में छोड़ देना पड़ता है, दूसरा लोकों में हँसी होती है।

(७) विशेषज्ञता—सार-असार, कार्य-अकार्य, वाच्य-अवाच्य, लाभ-हानि आदि का विवेक करना, तथा नये-नये आत्महितकारी ज्ञान प्राप्त करना। सब दृष्टियों से भली प्रकार जान लेना विशेषज्ञता है।

(८) गुणपक्षपात—हमेशा गुण का ही पक्षपाती होना। चाहे फिर वे गुण स्वयं में हों या दूसरों में हों।

८. साधना :–

(१) कृतज्ञता—किसी का जरा भी उपकार हो तो उसे कदापि नहीं भूलना चाहिये। उसके उपकारों का स्मरण करते हुए यथाशक्ति उसका बदला चुकाने को तत्पर रहना चाहिये।

(२) परोपकार—यथाशक्य दूसरों का उपकार करें।

(३) दया—हृदय को कोमल रखते हुए, जहाँ तक हो सके, तन-मन-धन से दूसरों पर दया करते रहना चाहिये।

(४) सत्संग—संगमात्र दुख को बढ़ानेवाला है। कहा है ''संयोगमूला जीवेण पत्ता दुक्ख परंपरा''। किन्तु सज्जन पुरुषों का, सन्तों का संग भवदुख को दूर करने वाला एवं सन्मार्ग प्रेरक होता है, अतः हमेशा सत्पुरुषों का सत्संग करना चाहिये।

(५) धर्मश्रवण—नियमित रूप से धर्मश्रवण करना चाहिये। जिससे जीवन में प्रकाश और प्रेरणा मिलती रहे। इससे जीवन सुधारने का अवसर मिलता है।

(६) बुद्धि के आठ गुण—धर्म श्रवण करने में, व्यवहार में तथा किसी के इंगित, आकार एवं चेष्टाओं को समझने में बुद्धि के आठ गुण होना अति आवश्यक है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शुश्रूषा श्रवणं चैव, ग्रहणं धारणं तथा ।
ऊहाऽपोहोऽर्थविज्ञानं, तत्त्वज्ञानं च धीगुणाः ।।

(क) शुश्रूषा—श्रवण करने की इच्छा होना शुश्रूषा है। इच्छा के बिना सुनने में कोई रस नहीं आता।

(ख) श्रवण—शुश्रूषापूर्वक श्रवण करना। इससे सुनते समय मन इधर-उधर नहीं दौड़ता है। एकाग्रता आती है।

(ग) ग्रहण—सुनते हुए उसके अर्थ को बराबर समझते जाना।

(घ) धारण—समझे हुए को मन में बराबर याद रखना।

(ङ) ऊह—सुनी हुई बात पर अनुकूल तर्क दृष्टांत द्वारा विचार करना।

(च) अपोह—सुनी हुई बात का प्रतिकूल-तर्कों द्वारा परीक्षण करना कि यह बात कहाँ तक सत्य है?

(छ) अर्थविज्ञान—अनुकूल प्रतिकूल तर्कों से जब यह निश्चय हो जाय कि बात सत्य है या असत्य है? यह अर्थ विज्ञान है।

(ज) तत्त्वज्ञान—जब पदार्थ का निर्णय हो जाय तब उसके आधार पर सिद्धान्त निर्णय, तात्पर्य निर्णय, तत्त्व निर्णय इत्यादि करना तत्त्व ज्ञान है।

(७) प्रसिद्ध-देशाचार का पालन—जिस देश में रहते हो, वहाँ के (धर्म से अविरुद्ध) प्रसिद्ध आचारों का अवश्य पालन करें।

(८) शिष्टाचार-प्रशंसा—हमेशा शिष्टपुरुषों के आचार का प्रशंसक रहें। शिष्टपुरुषों का आचार १–लोक में निन्दा हो, ऐसा कार्य कभी न करना। २–दीन दुखियों की सहायता करना। ३–जहाँ तक हो सके किसी की उचित प्रार्थना भंग न करना। ४–निन्दात्याग। ५–गुण-प्रशंसा। ६–आपत्ति में धैर्य। ७–संपत्ति में नम्रता। ८–अवसरोचित्त कार्य। ९–हित-मित-वचन। १०–सत्यप्रतिज्ञ। ११–आयोचित व्यय। १२–सत्कार्य का आग्रह। १३–अकार्य का त्याग। १४–बहुनिद्रा, विषय कषाय, विकथादि प्रमादों का त्याग। १५–औचित्य आदि शिष्टों के आचार हैं। हमेशा इनकी प्रशंसा करना, ताकि हमारे जीवन में भी ये आ जायें।

इस प्रकार धार्मिक जीवन के प्रारम्भ में मार्गानुसारिता के ३५ गुणों से जीवन ओतप्रोत होना आवश्यक है। क्योंकि हमारा लक्ष्य श्रावकधर्म का पालन करते हुए संसार त्याग कर साधु जीवन जीने का है, वह इन गुणों के अभाव में प्राप्त नहीं हो सकता। इन गुणों के अभाव में यदि व्यक्ति किसी तरह उस ओर बढ़ भी जाय तो भी वहाँ से पुनः उसके पतन की संभावना रहती है। मार्गानुसारी गुणों का इतना महत्व होते हुये भी कोई जरुरी नहीं है कि इन गुणों वाले व्यक्ति में सम्यग्दर्शन हो ही। किन्तु इन गुणों की विद्यमानता में व्यक्ति सम्यग्दर्शन को पाने योग्य भूमिका पर अवश्य आ जाता है। इन गुणों से धार्मिक जीवन शोभनीय हो उठता है।

१६, बोनफिल्ड लेन, कोलकाता-१

सोचने की बात

अब इन दो मेंढकों की भी सुन लीजिए जो किसी दुग्धशाला में क्रीम की नांद में जा पड़े।

बहुत देर तक बाहर निकलने के लिए व्यर्थ ही हाथ पैर मारने के बाद उनमें से एक टर्राया, "अच्छा हो, हाथ पाँव मारना भी छोड़ दें। अब तो हम गए ही समझो।"

दूसरे ने कहा, "पाँव चलाते रहो, हम किसी न किसी तरह इस झंझट से निकल ही जाएँगे।"

"कोई फायदा नहीं," पहला बोला। "यह इतना गाढ़ा है कि हम तैर नहीं सकते। इतना पतला भी है कि हम इस पर से छलांग नहीं लगा सकते। इतना चिकना है कि रेंग कर निकल नहीं सकते। हमें देर सबेर हर सूरत में मरना ही है, तो क्यों न आज की ही रात सही।" और वह नांद की पेंदी में डूब कर मर गया।

लेकिन उसका दोस्त पाँव चलाता रहा, चलाता रहा, चलाता रहा। और सुबह होते न होते वह मक्खन के एक लोंदे पर बैठा हुआ था जिसे उसने अपने आप मथ कर निकाला था। अब वह शान से बैठा चारों तरफ से टूट कर पड़ रही मक्खियों को खा रहा था।

वास्तव में उस नन्हें मेंढक ने वह बात जान ली थी जिसे अधिकांश लोग नजरअंदाज कर जाते हैं : अगर आप किसी काम में निरंतर जुटे रहें, तो विजयश्री आपके हाथ अवश्य लगेगी। ■

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org